बिहार का आंचलिक इतिहास, लोक–परम्पराएँ एवं रीति–रिवाज

डॉ. सुनीता कुमारी
लूटाबड़, रामनगर
नैनीताल, उत्तराखण्ड
Email - rajnikant201@gmail.com

सारांश

अंचल से गहन सृजनधर्मी आत्मीयता ही आंचलिकता है। यह आत्मीयता प्रकृत भी है, स्वाभाविक भी। यह आत्मीयता ही उस रचनात्मक अन्तरंगता का आधार प्रस्तुत करती है जो आंचलिक दृष्टि से लिखी रचनाओं को अन्य रचनाओं से भिन्न आकार–प्रकार देती है।

आंचलिकता युगीन परिस्थितियों के स्वाभाविक विकास से पैदा हुई सांस्कृतिक राजनीति की सृजनात्मक चेतना है। यह केन्द्रीकरण के वर्चस्व के विरुद्ध, देश के विभिन्न अंचलों की सांस्कृतिक अस्मिताओं की अदम्य जिजीविषा की अकुंठ घोषणा है।

आंचलिकता केवल हिन्दी–साहित्य–क्षेत्र में नहीं बल्कि देश और विश्व–स्तर पर साहित्य–रचना की संवेदनशील और सशक्त प्रवृति के रूप में सामने आई। भारतीय विशेषतः हिन्दी–साहित्य में इस प्रवृत्ति को आधार बना कर साहित्य–लेखन की परम्परा का जन्म अपेक्षाकृत नया ही है। प्रस्तुत शोध बिहार का आंचलिक इतिहास, लोक–परम्पराएँ एवं रीति–रिवाज के अध्ययन का विनम्र प्रयास है। आंचलिकता को एक ओर तो अनेक दोषों से ग्रस्त मानकर मुख्यधारा में इसके प्रवेश को ही अनुचित बताया गया, तो दूसरी ओर इसे अत्यन्त महिमामंडित करने के अयाचित प्रयत्न भी दिखाई देते हैं। ऐसे में आंचलिक साहित्य की वास्तविक मूल्यवत्ता की परख न केवल कठिन बल्कि असम्भव–सी होकर रह गयी है। हिन्दी साहित्य कोश में आंचलिकता को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि –''आंचलिक शब्द प्रायः उपन्यास–लेखन के प्रसंग में प्रयुक्त होता है; यद्यपि कहानी, काव्यादि अन्य विधाएँ भी इससे अछूती नहीं हैं। आंचलिक रचनाओं में कोई विशिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका एक भाग व गाँव ही प्रतिपाद्य व विवेच्य होता है। इस प्रकार उपन्यास का कथा–क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो जाता है। आंचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्योहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे–लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारणगत विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत एवं व्यवहारगत विशेषताएँ, उनके अपने रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाना अपेक्षित है। आंचलिक रचना भले ही सीमित क्षेत्र से सम्बद्ध हो, पर प्रभाव की दृष्टि से वह सार्वजनीन हो सकती है, बशर्ते उसका स्रष्टा वैसी प्राणवत्ता व अतल स्पर्शी सूक्ष्म दृष्टि रखता हो तथा उसके विचारों में गरिमा और कला में सौष्ठव हो।''

शब्द कुंजी

आंचलिक इतिहास, रीति–रिवाज, लोक–परम्परा, दुर्गा पूजा, छठ पूजा, वसंत पंचमी, शामा–चकेवा।

बिहार का आंचलिक इतिहास

बिहार अत्यन्त समृद्ध एवं गौरवशाली अतीत का धनी है। इसका साक्ष्य मात्र प्राचीन वाङ्मय में ही नहीं अपितु पुरातात्विक अवशेषों से भी मिलता है। प्राचीन काल से अब तक मानव–प्रतिभा यहाँ अभिनव रूपों में विकसनशील रही है, जिससे सारा विश्व लाभान्वित होता रहा है। भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान की विविध दिशाएँ यहाँ आदिकाल से ही प्रसरित होती रही हैं। बिहार में भारत का पहला साम्राज्य, मगध स्थापित हुआ; जिसके नेतृत्व में समूचे देश को एकीकृत किया गया और केन्द्रीकृत प्रशासनिक ढाँचे का जन्म हुआ। राज्य की बहुविध धारणाओं यथा साम्राज्य, गणराज्य, और धर्मराज्य आदि यहीं से उद्भूत हैं। संसार के अनेक सुप्रसिद्ध धर्मों जैसे – वैदिक, जैन, बौद्ध, वीरशैव, सिख दरियापंथ एवं लश्करी पंथ के अभ्युदय में इस सांस्कृतिक अंचल की अद्वितीय भूमिका रही है। यहाँ की प्रतिभा और शौर्यप्रसवा धरा ने समग्र मानव–समाज को सत्य और अहिंसा और शान्ति जैसे शास्वत जीवन–मूल्य दिए हैं। बोधगया में समाधिस्थ सिद्धार्थ (महात्मा बुद्ध) ने आत्म–ज्ञान का सम्बोध अर्जित किया। बिहार को वैशाली–पुत्र तीर्थंकर महावीर सहित चौबीस जैन तीर्थंकरों और महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि और कर्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। सम्राट अशोक द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित अहिंसा तथा धम्मविजय विश्वप्रसिद्ध हैं। यह अनेक प्रसिद्ध बौद्ध विहारों और ज्ञान के प्रचार–प्रसार के महत्वपूर्ण पुरातन केन्द्र के रूप में विश्व विख्यात रहा है। नालंदा, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी के विश्वविद्यालय यहाँ के प्रमुख

प्राचीन ज्ञान–केन्द्र थे, जहाँ देश–देशान्तर के हजारों शिक्षार्थी ज्ञानार्जन किया करते थे। याज्ञवल्क्य, कपिल, गौतम, मंडन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, ज्योतिरीश्वर ठाकुर और भारती जैसी महान विभूतियाँ बिहार का गौरव हैं। 'विद्यापति कवि के गान' यहीं मिथिलांचल में मुखरित हुए।

बिहार के अप्रतिम आंचलिक साहित्यकारों ने अपनी अमूल्य रचनाओं में जिन अंचलों के जीवन का पुनर्सृजन किया है उनके विलक्षण सौन्दर्य और शक्ति को हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है –''उत्तर बिहार की भूमि स्वर्ग का वह खण्ड है, जो हिमालय से पिघलकर पृथ्वी के रूप में परिणत हुई है। दक्षिण दिशा की ओर ढलती–उतरती यहाँ की धरती देवतात्मा हिमालय के आन्तरिक भावातिरेक से तथा दुग्ध–द्रवित अनगिनत स्रोतों से सन कर बनी है। इस धरती पर सर्वत्र सरिताओं के लहरदार श्वेत जरीदार तार खींचे गये हैं और जगह–जगह ह्रदों एवं सरोवरों के चमकते शुक्र और चाँद जैसे बेल–बूटे भी काढ़े गये हैं। उत्तर बिहार की यह धरित्री हिम–कन्या गौरी के आँचल के पवनान्दोलित दुकूल–जैसी बनी है, जिस आँचल के निचले छोर में चाँद की पिघलती धारा–सी गंगा नदी टाँकी गयी है और दोनो किनारियों में एक ओर पुखराजी रंग वाली गंडकी धार और दूसरी ओर कांचन–द्रवित सुनहले रंग की महानन्दा की धार जड़ी हुई है। वर्षा ऋतु में हिमालय से गंगा तक और गंडकी से महानन्दा तक का धरा–दुकूल जब लहराता है, तब इसकी मौज कुछ और ही होती है। लगता है, जैसे समस्त वरुणालय उजले आकाश की तरह बिछकर पृथ्वी पर बह रहा है। हिमालय तो हर साल ही इस धरित्री का कलुष–कल्मष धोकर गंगा में डाल देता है।'' शिवपूजन सहाय की अमर कृति 'देहाती दुनिया' का उपजीव्य इसी गंगा के पानी से निर्मित और सिंचित बिहार के पश्चिमोत्तर अंचल का जीवन है। आंचलिकता के आने से हिन्दी कथा–साहित्य के क्षेत्र में जो और जितने परिवर्तन हुए, वे उस समय की भारतीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की स्वाभाविक परिणतियों के सहज कलारूप हैं। हिन्दी में आंचलिकता का प्रवेश फणीश्वरनाथ रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' से माना जाता है। आंचलिकता को हिन्दी–साहित्य की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में 'रेणु' ने ही पहचान दी।

किसी भी समाज, राज्य अथवा राष्ट्र का सामाजिक–सांस्कृतिक आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिवेश वहाँ की शिक्षा–व्यवस्था से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनो रूपों में प्रभावित होता है। आज के वैज्ञानिक एवं वैश्वीकरण के इस युग में बिहार के सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विकास की रफ्तार अत्यन्त मंद होने का एक प्रमुख कारण यहाँ की अशिक्षा एवं रूढ़िवादिता है। वर्तमान समय में भारत में जनसंख्या की दृष्टि से तीसरा, क्षेत्रफल की दृष्टि से बारहवाँ स्थान रखने वाला यह प्रदेश शिक्षा एवं विकास के दौड़ में बहुत पीछे खड़ा प्रतीत होता है। बिहार के अतीत को निहारने से यह पता चलता है कि आज जो बिहार शिक्षा एवं विकास के क्षेत्र में दयनीय स्थिति के कारण पिछड़े राज्यों के रूप में जाना जाता है, उसका अतीत अन्य राज्यों के लिए प्रेरणा दायक था। यह प्रदेश वैदिक काल एवं बौद्ध काल में शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना विशेष महत्व रखता था।

बिहार की लोक–परम्पराएँ एवं रीति–रिवाज

बिहार के नाम से प्रख्यात भौगोलिक–सांस्कृतिक अंचल मानव–जीवन के बहुविध उतार–चढ़ावों का साक्षी रहा है। अनेक विलक्षण विभूतियों की जन्मस्थली तथा कार्यक्षेत्र होने का वैभव इस अंचल को हासिल है। देश और दुनिया के अन्य अंचलों की तरह बिहार की भी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता है। समय के साथ बिहार के निवासियों ने अपनी जीवन–विधि का विकास किया है, जो इन्हें देश के अन्य इलाकों से अलग पहचान देती है। बिहार में अनेक ऐसी विभूतियाँ जन्मी हैं जिन्होंने अपने योगदान से बिहार को ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में अपने देश को गौरवान्वित किया है। बिहार एक बड़ा उपजाऊ भूभाग है। भूमि का अन्यायोचित बंटवारा यहाँ व्याप्त गरीबी का एक प्रधान कारण है। मूलतः यहाँ कई एकड़ों में फैले बड़े कृषि–क्षेत्र थे। पीढ़ी दर पीढ़ी परिवार के बेटों के बीच इसका बँटवारा होने से ये छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटकर रह गए हैं। किसानों के बीच का पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य यहाँ फैली गरीबी का दूसरा मुख्य कारण है। बिहार की 85 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण इलाकों में रहती है। शुरुआत से ही बिहार ने नवागंतुकों को आकर्षित किया है। बंगाली, मध्य एशिया से तुर्की, पारसी, तथा अफगानी, सभी यहाँ आाकर बसे हैं। 1947 में ब्रिटिश भारत के विभाजन के समय पंजाबी हिन्दुओं के यहाँ आने के साक्ष्य भी मिलते हैं। यहाँ जनसाधारण में विचार विनिमय का साधन मैथिली, अंगिका, मगही, बज्जिका, भोजपुरी इत्यादि बिहारी भाषाएँ हैं।

बिहार के इतिहास में सबसे पहले आर्य सभ्यता–संस्कृति के प्रचार–प्रसार के साक्ष्य मिलते हैं। यहाँ के शासकों ने वैदिक धर्म को अपनाया व संरक्षण भी दिया। राजा, ब्राह्मण और क्षत्रिय सामंत सभी यज्ञ करते थे। इन यज्ञों में इंद्र, वरूण, सोम, प्रजापति आदि वैदिक देवताओं की पूजा की जाती थी। यज्ञों में बलि देने की प्रथा प्रचलित थी। प्राचीन श्रोतों में ब्राह्मण धर्म के प्रसंग में अनेक देवी–देवताओं की उपासना के विविध उल्लेख हैं। यहाँ के लोग दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरूण, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि की उपासना परम्परागत रूप से करते आए हैं।

वसंत पंचमी का पर्व – सरस्वती पूजा – माघ महीने के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को मनाया जाता है। वसंत पंचमी के दिन बिहार के सभी शिक्षण संस्थानों में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों मिलकर माँ सरस्वती की पूजा हर्षोल्लास के साथ करते हैं। ये बुद्धि और विद्या की देवी कही जाती हैं। सरस्वती पूजन हेतु विशाल आकार की सुन्दर मृत्तिका–प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। विद्यालयों, सामूहिक स्थलों पर विशाल पाण्डालों में इन मूर्त्तियों की प्राण–प्रतिष्ठा एवं

विधिवत् पूजा की जाती है। इन्हें मुख्यतः मौसमी फल और कंद–मूल चढ़ाए जाते हैं। पूजा के उपरान्त अगले दिन भव्य समारोह के साथ मूर्त्ति का विसर्जन पास के जलाशय में किया जाता है। विसर्जन में शामिल लोग निम्नलिखित पंक्तियाँ दोहराते हैं –''वीणा–पुस्तक रंजित हस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते।''

वट सावित्री पूजा बिहार का एक मुख्य लोक–पर्व है। यह ज्येष्ठ मास की अमावस्या तिथि को मनाया जाता है। सुहागिनों द्वारा विवाह के प्रथम वर्ष में इसे विशेष विधानपूर्वक आयोजित किया जाता है। इसमें कपड़े से शिव–पार्वती की सांकेतिक आकृतियाँ बनाकर इनकी पूजा की जाती है। इस पूजा में व्रती द्वारा वट वृक्ष की एक सौ आठ परिक्रमाओं का विधान है। इसके उपरान्त पुरोहित व्रतियों को सावित्री और सत्यवान की कथा सुनाते हैं। बांस से बनाई गई तेरह बीनियों (पंखों) पर भोग लगाकर पूजा के उपरान्त प्रसाद के रूप में इनका वितरण सुहागिनों के बीच कर दिया जाता है तथा उनका आशीर्वाद लिया जाता है।

चौचन्दा – चन्द्रमा की पूजा – यह पर्व भादो महीने के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी तिथि को मनाया जाता है इसे कलंकी चौथ के नाम से भी जाना जाता है। इस पूजा में मीठे पकवान फल फूल आदि चढ़ाए जाते हैं। विशेष कर दही से चन्द्रमा देखने की प्रथा है।

दुर्गापूजा – आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से दशमी तिथि तक यह पूजा सम्पूर्ण राज्य में भरपूर उल्लास के साथ की जाती है। इन्हें शक्ति का मूर्त्त विग्रह माना जाता है। देवी–पूजन हेतु भव्य एवं सुन्दर प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। सामूहिक स्थलों पर विशाल पाण्डालों में इन मूर्त्तियों की दस दिवसों तक विधिवत् पूजा की जाती है। पूजा के पहले दिन कलश–स्थापना की जाती है। मिट्टी की वेदिका बनाकर उसमें जौ के बीज डाले जाते हैं। इस वेदिका पर कलश स्थापित किया जाता है। सप्तमी तिथि को युग्म बिल्वफल से कालरात्रि–पूजन के उपरान्त अष्टमी तिथि के प्रविष्ट होने पर देवी जागरण का विधान है। जागरण के समय से भक्त देवी के दर्शन के लिए स्वतंत्र होते हैं। दशमी तिथि को अन्तिम पूजा के उपरान्त वेदिका पर उग आए जौ के पौधों (जयन्ती) को पुजारी द्वारा भक्तों में प्रसाद–स्वरूप वितरित किया जाता है। भव्य समारोह के साथ मूर्त्ति का विसर्जन पास के जलाशय में किया जाता है।

शामा–चकेवा – यह बिहार के प्रसिद्ध त्योहारों में से एक है। इसे उत्तरी बिहार के मिथिलांचल में विशेष रूप से मनाया जाता है। इसे आश्विन मास की पूर्णिमा तिथि को मनाते हैं। ये मुख्यतः कुंवारियों का पर्व है लेकिन आम तौर पर इसमें समग्र ग्रामीण स्त्री–समाज की सहभागिता होती है। ''पूर्णिमा से दो रात पहले से शामा–चराई की रात शुरू होती है। घर–घर से डालियाँ लेकर आती हैं लड़कियाँ। डालियों में चावल, फल, फूल, पान–सुपारी के साथ पंछियों के पुतले। लम्बी पूँछ वाली खंजन, पूँछ पर सिन्दूरी रंग का टीकावाला पंछी, ललमुनियाँ। बिनरा....बृन्दाबन! जहाँ शामा–चकेवा की जोड़ी चरेगी। छोटे–छोटे कीड़े–पतंगे, बरसात के जन्मे। असली कीड़े–पतंगे नहीं, मिट्टी के ही। बृन्दाबन में चुगला आग लगा देगा। जली–अधजली चिड़िया बृन्दाबन की आग को अपने छोटे–छोटे डैने से बुझावेगी। धान, दही, दूध और मिट्टी के ढेले खिलाकर, लड़कियाँ बिदा करेंगी शामा–चकेवा को –'जहाँ के पंछी तहाँ उड़ि जा, अगले साल फिर से आ!''[10] इस विशिष्ट स्त्री–पर्व में गाए जाने वाले गीतों की बानगी निम्नलखित है –

गाम के अधिकारी तोहे बड़का भइया हो।
गाम के अधिकारी तोहे छोटका भइया हो।
भइया हाथ दस पोखरी खुनाय देहो।
चम्पा फूल लगाय देहो हे.....।।
साम चकेवा खेलब हे.....।।

इसी तरह के कई अन्य त्यौहार होते हैं जैसे दीपावली, दशहरा, होली, रामनवमी, देवोत्थान एकादशी, लबान (नये फसल का त्योहार) सतुआनी, कार्तिक पूर्णिमा, भाईदूज। यहाँ कुल देवी–देवताओं आदि की पूजा भी होती है।

छठ – सूर्य पूजा – कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को पहला अर्घ्य होता है, जिसमें सूर्य की पूजा की जाती है। दीपावली के बाद चौथे दिन से यह पर्व प्रारम्भ होता है। पर्व के पहले दिन को व्रती और परिवार के अन्य लोग पूजा की तैयारी में सफाई का विशेष ध्यान रखते हुए व्यापक स्नान करते हैं और उस दिन को 'नहाय–खाय' के नाम से जाना जाता है। इस दिन के भोजन में भात, चने की दाल और लौकी की सब्जी का विधान है। पूजा के दूसरे दिन को 'खरना' कहते हैं। इस दिन व्रती को निर्जल–निराहार रहकर रात्रिकाल में भगवान भाष्कर का ध्यान करना होता है। इसके बाद वाले दिन संध्याकाल में अस्ताचलगामी सूर्य को प्रथम अर्घ्य देने हेतु सभी जातियों के लोग गाँव के जलाशय अथवा निकटस्थ नदी के घाट पर एकत्रित होते हैं। पूजा के अन्तिम दिन प्रातःकाल उगते हुए सूर्य को पुनः उसी जलाशय अथवा नदी के घाट पर जल में खड़े होकर अर्घ्य दिया जाता है। इस तरह कुल 36 घंटे तक निर्जल–निराहार रहकर सूर्य की आराधना का विधान है। यह पर्व परिवारिक क्लेश के परिहार, सुहाग और संतति की दीर्घायु कामना तथा घर में सुख, सम्पत्ति और समृद्धि लाने के लिए मनाया जाता है। सामूहिकता, समत्व भावना और पवित्रता की दृष्टि से इस पर्व का बिहार की संस्कृति में अद्वितीय महत्व है। यह पर्व पूरे बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश के कई महत्वपूर्ण त्योहारों में से एक है।

यहाँ शालिग्राम की पूजा का भी उल्लेख मिलता है। गंडक नदी में मिलने वाले काले तथा चमकीले (गोमेद) पत्थर को शालिग्राम के नाम से पूजने की प्रथा है। समय के साथ धीरे धीरे बदलाव आया और आर्यों तथा आर्येतर

समाजों की सभ्यता में एकरसता आई। यह संबंध आज भी कायम है। आगे चलकर बौद्ध और जैन धर्म का उदय हुआ इनके संस्थापक सन्यासियों तथा भिक्षुओं की भाँति घमते थे, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे।

बिहार के विभिन्न इलाकों में रहने वाली आर्येतर जातियाँ मुख्यतः शिव और सर्प पूजक थीं। इस का साक्ष्य बिहार के राजगृह में उत्खनन से एक मणि नाग मंदिर मिला है, जिससे यहाँ सर्प उपासकों के होने की पुष्टि होता है। यहाँ एक मान्यता यह भी है कि नागों की पूजा करने से वर्षा होती है। इस तरह की कई और मान्यताएँ यहाँ प्रचलित रही हैं जैसे – पेड़, पौधों, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु आदि की पूजा पूर्व वैदिक काल से ही बिहार में होती आ रही है। पेड़ों में पीपल, बरगद, आँवला, आम, बेल आदि वृक्षों को पवित्र माना जाता है, तथा इनकी पूजा की जाती है।

मधुबनी चित्रकला जिसकी उतपत्ति रामायण के समय की मानी जाती है। यह मिथिलांचल में प्रचलित है। इन चित्रों को पारंपरिक तौर पर झोपड़ी की कच्ची दीवारों पर खास मौकों जैसे जन्म, उपनयन तथा विवाह के दौरान बनाया जाता था। अब इन्हें कपड़े और कागज पर भी बनाया जाता है। इनमें मुख्यतः देवी–देवता तथा प्राकृतिक चीजें बनाई जाती हैं। बिहार के मिथिला क्षेत्र के अलावा अन्य कई जगहों पर भी धार्मिक कला सम्बन्धों को देखा जाता है जैसे – भित्ति चित्र। इस कला में – दुर्गा, सीता–राम, शिव–पार्वती, राधा–कृष्ण, आदि को उकेरा जाता रहा है। शुभ कार्यों के अवसरों पर घर या दहलीज के सामने या फिर मुख्य दरवाजे की भित्ती पर अनेक चित्रों को उकेरा जाता है। इसमें कई देवी–देवताओं, पशु–पक्षियों, पेड़ों, ग्रहों, नक्षत्रों आदि के चित्र बनाते हैं। इन सभी चित्रों का किसी न किसी प्रतीकात्मक रूप में हमारे सामाजिक जीवन से अटूट संबंध होता है। विभिन्न आकृतियाँ सूर्य, चन्द्रमा – जीवन शक्ति, मछली – उर्वरता के लिए, बांस और कमल – वंशवृद्धि, तोता – प्रेम और कछुआ – प्रेमी, हाथी–घोड़े –ऐश्वर्य के, हंस–मयूर – शांति के, आदि हमारे जीवन के हर मोर का प्रतीक चिन्ह माने जाते हैं। बिहार के कमोबेश सभी ग्रामीण अंचलों में शुभ कार्य – विवाह, जनेऊ, मुंडन आदि धार्मिक अनुष्ठान तब तक पूरे नहीं माने जाते हैं, जब तक इन प्रतीक चिन्हों को अंकित नहीं किया जाता। यहाँ के हस्त शिल्पियों को भी अपने काम में महारथ हासिल है। वे स्थानीय वस्तुओं जैसे बाँस, सिक्की घास आदि से दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न वस्तुएँ टोकरी, सूप, आदि बनाते हैं जो आपको बिहार के सभी घरों में मिल जाएँगे।

यहाँ लोकगीतों की बड़ी पुरानी परंपरा है। ये गीत महत्वपूर्ण पारिवारिक कार्यक्रमों तथा त्योहारों के दौरान गाए जाते हैं। इन्हें तबला, ढोलक, बाँसुरी तथा हारमोनियम जैसे वाद्यों के साथ गाया जाता है। होली में गाये जाने वाले गीत फाग या फगुआ के नाम से जाने जाते हैं। यहाँ कई प्रकार के लोकनृत्य भी प्रचलित हैं जैसे धोबी नाच, मन्झी, मोर–मोरनी, डोम–डोमिन, झूमर नाच, भुइया बाबा, कठघोरवा नाच, नटुआ नाच, बिदापत नाच आदि।

पुराने समय से यहाँ के समाज में वर्ण व्यवस्था विद्यमान रही है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्पष्ट विभाजन रहा है। समाज में आज भी जाति–प्रथा का प्रभाव व्यापक स्तर पर देखा जा सकता है। ब्राह्मण वैदिक कर्मकाडों एवं विद्योपार्जन, पठन–पाठन में लगे रहने के कारण समाज में प्रतिष्ठित स्थान पर रहे हैं। ब्रह्मणों की कई उपजातियाँ भी हैं। इनमें बालकुनज, सारस्वत, मैथिल एवं शाकद्वीपी मुख्य हैं। बिहार में भूमिहार ब्राह्मणों की संख्या भी अत्यधिक रही है। उन्हें ब्राह्मणों से भिन्न माना गया क्योंकि ये किसान थे और इनमें से अनेक जमींदार थे तथा राजपूतों की तरह इनकी पदवियाँ राजा महाराजा की रही हैं। राजपूत स्वयं को क्षत्रिय मानते हैं। यह एक गौरवशाली जाति है। बनिया संप्रदाय में अग्रवाल सर्वोपरि माने जाते हैं। वैश्य इनके बाद आते है। सभी जगहों की तरह शूद्रों का स्थान यहाँ भी निम्न माना जाता रहा है। धानुक पहले पालकी ढोने का काम करते थे। ग्वाले पशु–पालन करते हैं तथा दूध का व्यापार करते हैं। अन्य जातियाँ भी हैं, जिनका दिखाई दे जाना भी अशुभ माना जाता है। परम्परागत रूप से निम्नतम मानी जाने वाली जातियों में दुसाध और चमार आते हैं। ये चमड़े के सामान बनाते हैं। इनकी औरतें पारम्परिक रूप से दाई का काम करती हैं। मानव जीवन से संबंधित कई अनुष्ठान और रीति–रिवाज सभी जगहों की तरह यहाँ के समाज में भी मान्य हैं और सभी वर्ग इन्हें यथासंभव प्रयास तथा संसाधनों से पूरा करते हैं। विभिन्न अवसरों पर धार्मिक अनुष्ठान और रीति रिवाजों के अनुसार विविध कर्मकांड किए जाते हैं।

बच्चे के जन्म के अवसर पर पूरे परिवार में हर्षोल्लास का माहौल रहता है। इस अवसर पर बधाई गीत (सोहर) गाए जाते हैं। बच्चे के जन्म के छठे दिन छठियारी (षष्ठिपूर्त्ति) होती है। उस दिन घर के सभी वरिष्ठ सदस्य बच्चे को आशीर्वाद देते हैं और आज ही पहली बार बच्चे को नए कपड़े पहनाए जाते हैं। कुछ महीनों बाद अन्नप्रासन किया जाता है, इसमें बच्चे को अन्न खिलाया जाता है। बच्चे का नाम रखने की प्रक्रिया नामकरण संस्कार कहलाती है।

सात से तेरह वर्ष की उम्र में यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है। कुल देवी और अन्यान्य देवताओं का आह्वान किया जाता है। आँगन में चौखंडी मंडप बनाया जाता है जिसमें कलश रखते हैं। बच्चे को उबटन लगाकर नहलाया जाता है। विधि के अनुसार पहले (क) नारियल के रेशों की रस्सी से बना जनेऊ (ख) मूंज का जनेऊ (ग) फूल का जनेऊ और फिर अंत में धागे का जनेऊ बच्चे को पहनाया जाता है। इसके बाद बरूआ (बच्चा) घर की महिलाओं से भिक्षा माँगता है। छह बार की भिक्षा पुरोहित की होती है। सातवीं भिक्षा बरूआ की होती है।

विवाह हिन्दू संस्कृति का एक महत्वपूर्ण संस्कार है। विवाह की तिथि के पाँच दिन पहले से विधि–विधान शुरू हो जाते हैं। पहले दिन गोसायीं घर और कुल देवी–देवताओं के स्थान में पान कसेली से न्योता दिया जाता है। उसी दिन से लड़की को उबटन (आटा, हल्दी, सरसों तेल, चिरचिरी के पौधे का मिश्रण) लगाया जाता है। आखिरी दिन सात बार उबटन लगाकर उसे नहलाया जाता है। गणेश पूजा के बाद उसे हल्दी चढ़ाई जाती है। अगले दिन बारात आती है

और लग्नानुसार शादी होती है। बारात का स्वागत, द्वार पूजा (गलसेदी) के बाद दूल्हे को उखल–समाठ के पास ले जाया जाता है जिसमें पंडितजी आठ मुट्ठी धान डालते हैं। इसे सात जनेउधारी लोग दूल्हे के साथ मिलकर आठ चोटों में कूटते हैं। पाँच लड़कियाँ दूल्हे को एक हाथ में सिन्दूर और दूसरे में आम के पत्ते डाला हुआ कलश देकर कोहबर घर ले जाती हैं। वहाँ चादर के नीचे बैठी दो लड़कियों में से दूल्हे को अपनी दुल्हन को पहचानना होता है। उसके बाद वे वेदी के सात फेरे लेते हैं जिसके दौरान लड़की का भाई उसके हाथों में धान का लावा देता रहता है। फिर सिंदूर–दान और विदाई होती है। इस दौरान दोनो पक्षों में दो प्रकार के गीत गाए जाते हैं। कन्या के यहाँ गाए जाने वाले गीत सरस व मधुर होते हैं जो हृदय को पिघला देते हैं जबकि वर के यहाँ के गीत में हर्षोल्लास होता है।

व्यक्ति की मृत्यु के तेरह दिनों तक विभिन्न कर्मकांड किए जाते हैं। छोटे बच्चों का दाह संस्कार किए जाने की परंपरा नहीं है। दाह संस्कार के अगले दिन को दूधी कहते हैं इस दिन दूध–भात खाया जाता है। इसी दिन से पिन्ड–दान प्रारंभ होता है जो दस दिनों तक चलता है। दसवें दिन को दशकर्म कहते हैं। ग्यारहवें और बारहवें दिन पुरोहित विधि–विधान के अनुसार पूजा कराते हैं और दान दिया जाता है। पीतल, काँसा, ताँबा आदि के बर्तन और कपड़े दान में दिए जाते हैं। तेरहवें दिन पीपल पानी होता है। इस दिन घर के सभी सदस्य पीपल के पेड़ में पानी डालते हैं। पंडित मृतक की आत्मा की शांति के लिए मंत्रोच्चारण करते हैं। इसके बाद वार्षिक श्राद्ध होता है।

प्राचीन काल से ही, बिहार के लोग खान–पान के बड़े शौकीन रहे हैं। यहाँ का समाज शुद्ध शाकाहारी नहीं है; पर हिन्दुओं में मंगलवार, गुरूवार और शनिवार को मांसाहारी भोजन का निषेध है। लोग मुख्यतः दिन में दाल–भात तथा रात में रोटी–सब्जी खाते हैं। शनिवार के दिन बिहारी हिन्दू दिन के भोजन में खिचड़ी खाते हैं। चावल, दालें, शाक–सब्जी, दूध, दही, धी, मक्खन, तिल, मकई, गेहूँ, फल, कंद–मूल, मांस–मछली, जौ, बाजरा, मटर, ईख, लिट्टी–चोखा, चूड़ा–दही, बड़ी, कढ़ी–चावल, चितवा, पिट्ठा, तिलवा, मोतीचूर के लड्डू, पेड़ा, खाजा, पुआ, लाई, ठेकुआ आदि यहाँ के स्थानीय व्यंजन व मिठाइयाँ हैं। सत्तू, चूरा का भूजा यहाँ के आम–आदमी के दैनिक आहार का हिस्सा हैं। यहाँ मखाने की खीर पसंद की जााती है। आम के मौसम में उसके गूदे को धूप में सुखाकर अमठ बनाया जाता है। यहाँ पान भी काफी लोकप्रिय है। पुरूषों का मुख्य पारम्परिक वस्त्र है धोती, कुर्ता और गमछा। स्त्रियाँ मुख्यतः साड़ी, ब्लाउज और पेटीकोट पहनती हैं। आज के समय में पुराने परिधानों में खास बदलाव तो नहीं आया है लेकिन इस्लामी शासन के बाद कुछ नया जरूर जुड़ गया है जैसे–पुरूषों में पायजामा–कुर्ता, अचकन, शेरवानी आदि, स्त्रियों में घाघरा, चोली, सलवार–कुर्ता दुपट्टा आदि जुड़े हैं। शहरी इलाकों में और जगहों की तरह पश्चिमी वेश–भूषा अपना ली गई है।

इस तरह हम देखते हैं कि बिहार के विविध अंचलों में मानव–जीवन के बहुविध व्यक्तित्व आकार पाते रहे हैं। महान राष्ट्र की विविधतामय जीवन–ऊर्जा में इसका विशिष्ट योगदान रहता आया है। अतः देश के इस विराट चित्र से इन अंचलों के जीवन की अभिन्न सम्बद्धता ही इसे समग्रता दे सकती है।

निष्कर्ष

आंचलिकता को रचना–पद्धति के तौर पर न देखकर इसे रचनात्मक अंतर्दृष्टि या रचनात्मक विवेक के रूप में परिभाषित करना बेहतर है। यह लेखक के रचनात्मक विवेक की एक विशिष्ट कला है जो अन्य की तुलना में कहीं अधिक जनतांत्रिक ओर लोकधर्मी है। इस दृष्टि से अंचल से गहन आत्मीयता ही आंचलिकता है। यह गहन आत्मीयता लेखक को सम्वेदना का वह आधार देती है जिस पर आंचलिक विवेक सम्पन्न कृतियों की भव्य इमारतें खड़ी हैं। आंचलिकता पहले से उपलब्ध रचनात्मक क्षितिज का विस्तार करने में समर्थ है। इसके लिए उसे आवश्यक ऊर्जा लोक–संस्कृति से मिलती है और यह विशिष्ट रचनात्मक दृष्टि इस ऊर्जा का प्रयोग कर अभिव्यक्ति के वर्तमान क्षितिज का अतिक्रमण करती है।

विभिन्न अंचलों में आकार पाते जीवन–प्रसंगों के बीच स्त्रियों, दलितों और गरीबों की जीवनगत परिस्थितियों के कलात्मक पुनर्सृजन के परिप्रेक्ष्य में आंचलिक रचना–दृष्टि नये रचनात्मक क्षितिजों की पहचान करती है। इस प्रसंग में यह बात बहुत साफ तौर पर सामने आती है कि स्त्रीवादी लेखन, दलित लेखन और गरीबी को आधार बनाकर लिखे गये जनवादी साहित्य में निहित अंतर्दृष्टि से आंचलिक रचना–दृष्टि का स्पष्ट भेद है। आंचलिक रचनाकारों की रचनाओं में समाज के इन वर्गों का चित्रण, अन्य प्रचलित रचना दृष्टियों की तरह एकांतिक आग्रह पर आधारित न हो कर समग्रतावादी है। इनसे किसी भी वर्ग के किसी चरित्र का आंचलिक विवेक संपन्न जीवन–चित्र वृहत्तर सामाजिक परिप्रेक्ष्य के विभिन्न आसंगों की गहन पारस्परिकता में आकार पाता है। विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि जिन विशिष्ट अंचलों में ये पात्र और इनका जीवन पलता है वे स्वयं ही उपेक्षित हैं। इस अर्थ में आंचलिक साहित्य में उपलब्ध स्त्री, दलित और गरीब पहले तो मुख्य धारा से अपने अलगाव के कारण उपेक्षित हैं और अपनी उस आंचलिक व्यवस्था के भीतर अपने जैसे दूसरों की उपेक्षा और बदसलूकी भी झेलते हैं।

आंचलिक कथा–भाषा और शिल्प तथा हास्य और व्यंग्य–विवेक आंचलिक स्वरूप की विशिष्टताओं को सामने लाते हैं। इन रचनाओं से गृहीत उदाहरणों की पारस्परिक तुलना से यह साफ पता चलता है कि मानक भाषा के व्यवस्थित, सुसंस्कृति और सुरक्षित क्षेत्र को छोड़ते ही आंचलिक कथाकार एक नितान्त अरक्षित और अत्यन्त असुविधाजनक ढंग से प्रसरित भाषा–लोक में पहुँचने का जोखिम उठाता है। रचनात्मक दृष्टि से यह एक प्रकार की

साहसिक वृत्ति है। इसके लिए गहन आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है। यह बात जितनी भाषा और रचना विधान पर लागू होती है, उतनी ही हास्य और व्यंग्य विवेक पर भी।

सन्दर्भ सूची

आधार पुस्तकें

1. अजित कुमार, बिहार का इतिहास, जानकी प्रकाशन, पटना, 2006, पृष्ठ 3–4
2. प्रमोदानन्द दास, बिहार इतिहास एवं संस्कृति, लुसेंट पब्लिकेशन, पटना, 2008, पृष्ठ 107
3. फणीश्वरनाथ रेणु, आदिम रात्रि की महक, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2003 पृष्ठ 7
4. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृष्ठ 32–34
5. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1984, पृष्ठ 12
6. रमेश प्रसाद, बिहार इतिहास कला एवं संस्कृति, पार्वती प्रकाशन, पटना, 1996 पृष्ठ 48
7. शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 8

सहायक पुस्तकें

8. इन्दिरा जोशी, हिन्दी आंचलिक उपन्यास उद्‌भव और विकास, देवनागर प्रकाशन, जयपुर
9. इन्दु प्रकाश पाण्डेय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन–सत्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
10. उषा डोगरा, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का लोकतात्विक विमर्श, अनुभव प्रकाशन, कानपुर
11. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प–विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
12. पूर्णदेव, रेणु का आंचलिक कथा–साहित्य, आशा प्रकाशन गृह, नई दिल्ली
13. बंसीधर, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली
14. मृत्युंजय उपाध्याय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद,
15. शुभा मटियानी, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का रचना–विधान, हिमाचल प्रकाशन, हल्द्वानी

पत्रिकाएं

16. नामवर सिंह, 'आलोचना' नागार्जुन विशेषांक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981